संकल्प

नाट्य–कृति

नाटककार

कुमार आशीष

मन्तव्य

प्रस्तुत एकांकी अत्यन्त सुविचारित एवम् सुरुचिपूर्ण है। सत्य को अन्ततोगत्वा लक्ष्मी के ऊपर प्रतिष्ठित करने की कल्पना सर्वथा कमनीय एवम् प्रशंसनीय है। इन्द्र का चरित्र भी सांकेतिकरूपेण चित्रित हुआ है जो उसके परिचित पौराणिक चरित्र से भिन्न–विशिष्ट हुआ है। सत्यकेतु भारतीय नरेशों की सनातन कल्पना का प्रतिनिधित्व करता है जो जीवन के समस्त प्रेयस् तथा निःश्रेयस् को भी तिलांजलि दे सकते हैं, किन्तु सत्य को नहीं। वस्तुतः यह सत्य उस वैश्विक 'ऋत्' का ही लघु प्रतीक है जिस पर यह सृष्टि अवलम्बित है।

प्रस्तुत नाट्यकृति की कल्पना तथा अभिव्यक्ति दोनों मनोमोहक तथा प्रभावशाली हैं।

भाषा तत्समप्रधान, परिष्कृत तथा साहित्यिक 'संस्कृति' से समन्वित है।

युवक रचनाकार बधाई का पात्र है।

ह./–
(रमाशंकर तिवारी)

नाटक का संक्षिप्त कथासार

प्रस्तुत नाटक 'संकल्प' यद्यपि सत्य को अन्ततोगत्वा लक्ष्मी के ऊपर प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से रचा–बुना गया है, तथापि यह अपनी बुनावट में अनेक समसामयिक लौकिक तथा दार्शनिक समस्याओं पर गहन विचारोत्तेजक दृष्टि–रश्मियों को समेटे हुए है। नाटक का प्रधान नायक सत्यकेतु भारतीय नरेशों की उस सनातन कल्पना का प्रतिनिधित्व कर रहा है जो जीवन के समस्त प्रेयस् तथा श्रेयस् को तिलांजलि दे सकते हैं, किन्तु सत्य को नहीं।

नाटक में सात दृश्य हैं। प्रथम दृश्य में सूत्रधार और नटी नाटक का सूत्रपात करते हैं। द्वितीय दृश्य में सत्यकेतु एवं कंदर्प का संवाद मुख्य है जहाँ व्यक्ति एवं व्यवस्था के अर्न्तसम्बन्धों की ओर इंगिति है। अंततः सत्यकेतु प्रजा के प्रत्यक्ष भरणपोषण का दायित्व स्वीकार करता है। तृतीय दृश्य में इन्हीं प्रश्नों पर थोड़ी और दृष्टि, साथ ही सत्यकेतु के राज्य पर आसन्न संकट की भविष्यवाणी। चतुर्थ दृश्य में इन्द्र की सत्यकेतु की परीक्षा लेने हेतु कटिबद्धता। पंचम् एवं षष्ठम् दृश्य में एक वणिक् के रूप में राजा सत्यकेतु के साथ छल। सप्तम एवं अंतिम दृश्य में सत्यकेतु की सत्य के प्रति प्रतिबद्धता के कारण ऐश्वर्य का पुनरावर्तन। संक्षेप में, यही है कथासार।

नाटककार का आत्मविवरण

प्रस्तुत नाट्यकृति 'संकल्प' का नाटककार 'कुमार आशीष' नाटक को एक प्रभावशाली जन–संवेदी माध्यम के रूप में स्वीकार करने के साथ ही इसे साहित्य की एक सम्पूर्ण विधा के रूप में सम्मान प्रदान करता है।

नाटककार एक मध्यमवर्गीय परिवार का सामान्य सा नवयुवक है किन्तु उसकी चेतना में परिवेशगत सामाजार्थिक विषमतायें और उनसे जुड़े हुए प्रश्न अपनी स्वाभाविक चुभन के साथ उनके प्रस्तावित समाधान की दिशा में उसके साहित्य और जीवन के अनेक आयामों में अपनी अभिव्यक्ति पा रहे हैं।

नाटककार मूलतः कवि है जो मात्र जीवन के स्वानुभूत निर्वैयक्तिक सत्यों को प्रकट करने में स्वयं को कृतार्थ अनुभव करता है। चूँकि उसके अनुभव में नाटक एक सम्पूर्ण साहित्यिक विधा है, इसलिए उसे नाटक–लेखन एवं निर्देशन में विशेष रुचि है।

नाटककार–कवि कुमार आशीष की दृष्टि में साहित्य–साधना एक तपस्या है और महाप्राण निराला की उक्ति 'कविता मुक्ति चाहती है' के विपरीत उसका दृष्टिकोण एवं विश्वास है कि– 'कविता मुक्त करती है'– बस इतना ही आत्मविवरण।

पात्र–परिचय

पुरुष पात्र :

1. सूत्रधार
2. महाराज सत्यकेतु (आर्यावर्त का प्रतापी शासक)
3. द्वारपाल
4. नगर–रक्षक (राज्य का कोतवाल)
5. कंदर्प (द्वादशवर्षीय क्षत्रिय बालक)
6. महामात्य
7. राजगुरु
8. राजज्योतिषी
9. नगर–श्रेष्ठि
10. वररुचि (राजज्योतिषी का शिष्य)
11. नारद
12. देवराज इन्द्र
13. देवगुरु बृहस्पति
14. वणिक् (बावनवर्षीय विक्रेता)
15. राजपुरुष–1
16. राजपुरुष–2
17. धर्म
18. सदाचार
19. यश
20. सत्य

स्त्री पात्र :

1. नटी
2. रानी लावण्यमती (महाराज सत्यकेतु की अर्द्धांगिनी)
3. नर्तकी
4. लक्ष्मी

पहला दृश्य

(नेपथ्य से स्वर)

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूतेः भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

(मंच पर सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार :– (नेपथ्य की ओर देखकर)
नटी!, कहाँ छिप गयी हो आखिर... इधर आओ न!

नटी :– (दूसरी ओर से प्रवेश करती है।)
आर्य!, मैं इधर हूँ, ...आपके सामने।

सूत्रधार :– ओह! (घूमकर)
नटी!, पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में कहीं हम अपने देश के गौरवशाली अतीत को बिल्कुल ही न भुला दें, इसलिए कोई मधुर गीत गाकर हमें सावधान करो।

नटी :– सत्य कह रहे हैं, आर्य! आज आपने अतीत से साक्षात्कार करने की अतीव आवश्यकता है।... आर्यावर्त की महिमा को लक्ष्य कर एक गीत प्रस्तुत है।

(नटी का स्वर)

विश्व क्षितिज पर आर्य संस्कृति की किरनें फूटीं अभिराम।
वेद–ऋचाओं के सुमधुर गायन से गुंजित हुआ विहान।।

वैभव, यश सविनय करते थे, चरणों में झुक दण्ड–प्रणाम।
अखिल विश्व में मिला सहज ही हमें जगद्गुरु सा सम्मान।।

सुनो!, किसी दिन यहीं कहीं पर किलका करते थे भगवान।
सोन–चिरैया कभी कहा जाता था.......... भारतवर्ष महान् !।।

सूत्रधार :– भारतवर्ष को देवभूमि कहा जाता है... सम्भवतः इसीलिए, नटी!

नटी :– और सोन–चिरैया भी,... आर्य!

सूत्रधार :– (मुस्कुराते हुए)
सत्य कह रही हो, नटी! आर्यावर्त सोने की चिड़िया के रूप में विश्व–विख्यात रहा है। किन्तु, ...इसके पीछे था हमारा वह गहन तत्वबोध जो शुद्ध–प्रज्ञा की अजस्र रस–धारा में स्नात्, वेदों, आरण्यकों, उपनिषदों एवं सूत्रों के रूप में भारतीय जनमानस में रच–बस गया था। सचमुच अनोखी रही है हमारी जीवन–दृष्टि, नटी!

(सूत्रधार का स्वर)

'ईशावास्यमिदम् सर्वम्' सी दृष्टि................हमारी अनुपम थी।
'भुंजीथा त्यक्तेन' नीति थी, यदपि न वस्तु कोई कम थी।
'सत्यमेव जयते' की वाणी जन–गण–मन का अभिमत थी।
जीवनदृष्टि मुमुक्षु–चेतनायुक्त...............सत्य की अनुगत थी।
सदाचार, यश, धर्म और ऐश्वर्ययुक्त जन–जीवन में,
रागद्वेषविहीन 'प्राणिनामार्तनाशम्' ....का था ध्यान।

(सूत्रधार–नटी का सम्मिलित स्वर)

सुनो!, किसी दिन यहीं कहीं पर किलका करते थे भगवान।
सोन–चिरैया कभी कहा जाता था........... भारतवर्ष महान्!।।

सूत्रधार :– वह सतयुग था... सत्य का युग! हमारी संस्कृति की उस समय नींव पड़ रही थी। ....मुझे उस युग की एक कथा स्मरण हो आई है।

नटी :– 'सत्यमेव जयते!'....... पर आज भी प्रत्येक भारतवासी का अटूट विश्वास है। मैं कहानी सुनने के लिए उत्सुक हूँ, आर्य! ....और, यह कथा तो है भी इतनी रोचक कि चाहे जितनी बार सुनी जाये बासी नहीं होती, वरंच हर बार श्रवण की पिपासा को द्विगुणित कर देती है।

सूत्रधार :– तो सुनो, सतयुग की कहानी! ...आर्यावर्त में एक प्रतापी राजा हुआ था सत्यकेतु। यथा नाम तथा गुण.......

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

{राजसभा का दृश्य। महाराज सत्यकेतु राज–सिंहासन पर विराजमान हैं। रानी लावण्यमती राजा के वामांगस्थित अपेक्षाकृत छोटे सिंहासन पर आसीन हैं। महाराज सत्यकेतु के दाहिने पार्श्व में राजगुरु का आसन रिक्त है। वाम पार्श्व में महामात्य सहित समस्त पार्षद सभासीन हैं। नगर–श्रेष्ठि भी आज की सभा में उपस्थित हैं। आमोद–प्रमोद चल रहा है। राजनर्तकी द्वारा एक भाव–नृत्य प्रस्तुत किया जा रहा है।}

गीत

मुक्त चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र की वन्दना हम करें!!

शुद्ध चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र–अभ्यर्थना हम करें!!

राष्ट्र ही शक्ति है।
राष्ट्र ही भक्ति है।
राष्ट्र में ही हमारी भी
अभिव्यक्ति है।।

मुक्त चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र की वन्दना हम करें!!

शुद्ध चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र–अभ्यर्थना हम करें!!

राष्ट्र ही आन है।
राष्ट्र ही बान है।
राष्ट्र से ही हमारी
खिली शान है।।

मुक्त चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र की वन्दना हम करें!!

शुद्ध चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र–अभ्यर्थना हम करें!!

राष्ट्र सर्वस्व है।
राष्ट्र संरक्ष्य है।
राष्ट्रहित में हमारा भी
भवितव्य है।।

मुक्त चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र की वन्दना हम करें!!

शुद्ध चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र–अभ्यर्थना हम करें!!

राष्ट्र ही सत्व है।
राष्ट्र ही तत्व है।
राष्ट्र गतिमान है!
राष्ट्र गन्तव्य है!!

मुक्त चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र की वन्दना हम करें!!

शुद्ध चित् प्राण मन से, अहो!
राष्ट्र–अभ्यर्थना हम करें!!

(नर्तकी के पाँवों की गति शनैः शनैः स्थिर हो जाती है। दोनों हाथ राजा के समक्ष प्रणाम–मुद्रा में बँध जाते हैं।)

सत्यकेतु :– अलौकिक! ...अलौकिक!! कला और जीवन का अद्भुत संयोग! ...सत्य, स्वस्ति एवं सौंदर्य का अभूतपूर्व मिलन!

(ग्रीवा से हीरों का हार उतारता है।)

नर्तकी, धारण करो इसे। तुम्हारे माथे पर छिटक आये श्रम–सीकरों की तुलना में इन मोतियों की आभा फीकी पड़ रही है, नर्तकी! फिर भी धारण करो इसे।

नर्तकी :– धन्य हुई, राजन्!
(सिर झुकाकर पुरस्कार लेती है।)
आपका सुयश सर्वत्र प्रसारित हो।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल :– अन्नदाता की जय हो! ....नगररक्षक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सत्यकेतु :– उन्हें मार्ग दो।
(नगर–रक्षक का एक बालक सहित प्रवेश। बालक की आयु लगभग बारह वर्ष। तन पर मैले–कुचैले वस्त्र, किन्तु, मुख पर क्षात्र–तेज विद्यमान। कमर में एक छोटी सी कटार बँधी हुई है।)

नगर–रक्षक :– महाराज की जय हो!
(आगे बढ़कर अभिलेख प्रस्तुत करता है। अभिलेख पढ़ने के पश्चात् राजा की पैनी दृष्टि बालक पर पड़ती है।)

सत्यकेतु :– वत्स, तुम्हें क्या कहकर पुकारा जाये ?

बालक :— कंदर्प

सत्यकेतु :— तुम्हारी आयु ?

कंदर्प :— बारह वर्ष।

सत्यकेतु :— तुम्हारे पिता का नाम।

कंदर्प :— मेरे पिताश्री का नाम अश्वजित है।

सत्यकेतु :— उनका व्यवसाय ?

कंदर्प :— भूतपूर्व सैनिक हैं। युद्ध में आखें चली गयीं, इसलिए समय से पूर्व सेवानिवृत्त हो गये।

(राजगुरु का गुरु—गम्भीर प्रवेश। राजा समेत समस्त पार्षदों का सम्मान में खड़े हो जाना। समवेत प्रणाम्। राजगुरु के आसन ग्रहण कर लेने के पश्चात् सभा पुनश्च स्थापित होती है।)

सत्यकेतु :— हमारी सेना के महान योद्धा अश्वजित् के पुत्र कंदर्प! तुम्हें अभियुक्त के रूप में सामने पाकर मेरा हृदय अत्यन्त क्षुब्ध है।

कंदर्प :— सब नियति का खेल है, महाराज!

सत्यकेतु :— वत्स, तुम पर राज—नियम की अवहेलना का आरोप है। जानते हो, हमारे राज्य में दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण कर लेना अपराध है।

कंदर्प :— (सिर झुका लेता है।) हाँ, महाराज

सत्यकेतु :— बाजार में बन्दी बनाये जाने से पूर्व तुम क्या कर रहे थे ?

कंदर्प :— खाद्य—सामग्री क्रय कर रहा था, महाराज।

सत्यकेतु :— उस समय तुमहारे पास जो थैली पायी गई, वह तुम्हें कहाँ मिली थी?

कंदर्प :— मार्ग में।

सत्यकेतु :— क्या तुम्हें थैली के स्वामी का ज्ञान हैं?

कंदर्प :— हाँ, महाराज।

सत्यकेतु :— कैसे?

कंदर्प :— जिस समय वह पथिक की असावधानी से मार्ग में छूटकर गिरी, उस समय मैं उसके पीछे चल रहा था।

सत्यकेतु :— फिर, तुमने पथिक को आवाज क्यों नहीं लगाई?

कंदर्प :— मुझे धन की आवश्यकता थी।

सत्यकेतु :— अभियुक्त बालक, तुम पर लगाया गया आरोप उचित एवं सिद्ध—दोष है। तुमने पथिक के धन पर लोभ प्रकट किया है, अतएव तुम्हें दण्डस्वरूप दो मास के लिए कारागृह प्रदान किया जाता है। इस अवधि में तुम अपने चित्त से अपराध का परिमार्जन करो।

कंदर्प :— महाराज, मुझे कुछ निवेदन करना है।

सत्यकेतु :— वत्स, मैं तुम्हारी सत्यवादिता से प्रसन्न हूँ। कहो, क्या कहना है तुम्हें?

कंदर्प :— महाराज, मुझसे विवशता में अपराध हुआ है, अतएव मुझे दण्डित नहीं किया जाना चाहिए।

(सभा चौंक पड़ती है।)

महामात्य :– धृष्ट बालक, तुम राजदण्ड का अपमान कर रहे हो। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि इस कारण तुम्हारा दण्ड मृत्यु–दण्ड में भी परिणत हो सकता है ?

कंदर्प :– ज्ञात है, महामात्य!

सत्यकेतु :– वत्स, तुमने जानबूझ कर अपनी मृत्यु का वरण किया है। ....अभियुक्त को राजदण्ड का विरोध करने के कारण मृत्यु–दण्ड दिया जाता है।

कंदर्प :– कोई अन्तर नहीं पड़ता है, महाराज! ...भूख से तिल–तिलकर मरने की अपेक्षा जीवनलीला निमिषमात्र में समाप्त हो जाये, यही अच्छा है।

सत्यकेतु :– अन्तिम इच्छा व्यक्त करो, वत्स!

कंदर्प :– मृत्यु से पूर्व मात्र अपनी बात कह भर लेने की अनुमति चाहता हूँ महाराज!

सत्यकेतु :– अनुमति है।

कंदर्प :– (संयत होकर) महाराज, जब घर के मृत्तिकाभाण्ड तक बिक गये हों ...कुटुम्ब कंगाल हो गया हो ...पिता दृग्विहीन हों और बहिन रुग्ण ...तो कोई भी व्यक्ति अनायास मिलने वाले धन के प्रति लोभ संवरण करे भी तो कैसे? ...सेना में वृत्ति नहीं मिली– अवयस्क हूँ ...भिक्षा नहीं मिली– क्षत्रिय हूँ! हुँह... भूख की कोई आचारसंहिता नहीं होती, महाराज!

(थोड़ा थमकर, राजगुरु को दृष्टि में लेते हुए)

भूखे व्यक्ति को कर्तव्य–अकर्तव्य की सुध कहाँ? ...जानना चाहता हूँ कि प्राणहर्ता वह कैसे हो सकता है जो प्राणों की रक्षा न कर सके ? ...

जो हमारी पीड़ाओं को नहीं समझता वह हमारा भगवान कैसे हो सकता है, राजगुरू ?

(सत्यकेतु किंकर्तव्यविमूढ़ की भाँति राजगुरु को ओर निहारते हैं।)

राजगुरु :— सत्यकेतु, राजा का कर्तव्य प्रजा के हित की रक्षा करना है। नियमों के विनियमन एवं पालन की व्यवस्था इस कर्तव्य को ध्यान में रखकर ही की जानी चाहिए। स्मरण रहे कि संवेदनशीलता न्याय की पहली अनिवार्यता है। ...व्यक्ति व्यवस्था का साधन भी है और प्रयोजन भी।... व्यक्ति के अभाव में न तो समाज की कल्पना की जा सकती है और न ही राज्य की। इसलिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम व्यक्ति के अस्तित्व से जुड़े हुए प्रश्नों को हल किया जाए। उन्हें नकार कर आगे बढ़ जाना सम्भव नहीं। बालक ने उचित ही कहा है ...व्यवस्था की सार्थकता तभी है जब वह व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा करने में समर्थ हो। स्वयं के कर्तव्य की अवहेलना कर दूसरों से कर्तव्यपालन की अपेक्षा करना बुद्धिमानी नहीं। बालक को मुक्त ही नहीं किया जाना चाहिए, अपितु, इसके परिवार को पर्याप्त भरण—पोषण भी राज्य द्वारा प्रदत्त किया जाना चाहिए।

सत्यकेतु :— (खड़े होकर)
आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, राजगुरु!

राजगुरु :— (आशीर्वाद की मुद्रा में)
कल्याण हो!

सत्यकेतु :— दण्डादेश वापस लिया जाता है। बालक को मुक्त कर दिया जाये।

नगर—रक्षक :— जो आज्ञा महाराज!

(बालक को मुक्त कर दिया जाता है।)

सत्यकेतु :– बालक के परिवार राजकोष से इसके वयस्क होने तक भरण–पोषण लिए पर्याप्त धन प्रदान किया जाये, महामात्य! ....इसके अतिरिक्त राज्य के प्रत्येक नागरिक को दिन में दो बार संतुलित आहार अवश्य मिल सके, इस सम्बन्ध में तत्काल प्रावधान किया जाये जिससे कि भविष्य में किसी भी व्यक्ति को भूखे ही सो जाने पर विवश न होना पड़े।

महामात्य :– जो आज्ञा महाराज!

कंदर्प :– कृतार्थ हुआ, राजन्!

सत्यकेतु :– सभा विसर्जित हो।

(राजा सत्यकेतु रानी के साथ नेपथ्य में चले जाते हैं। सभा विसर्जित होती है।)

(पटाक्षेप)

तीसरा दृश्य

{राज–ज्योतिषी का प्रासाद। नगर–श्रेष्ठि के साथ वार्ता चल रही है। शिष्य वररुचि समीप ही कुशासन पर बैठा हुआ आचार्य की अमृत–वाणी का रसपान कर रहा है।}

राज–ज्योतिषी :– ... 'ग्रहाधीनाः जगत् सर्वम् मन्त्राधीनाः च ग्रहाः। ते मन्त्राः ब्राह्मणाधीनाः तस्मात् ब्राह्मण देवता।।... तात्पर्य यह है, नगर–श्रेष्ठि! ...कि यह जगत जो भासमान है, वह ग्रहों की पारस्परिक गतियों के अधीन है। ...और जो यह ग्रह हैं वह स्वयं मन्त्रों के अधीन हैं... दूसरे शब्दों में, ग्रहों के शुभाशुभ फलों को परिवर्तित करने की क्षमता मन्त्रों में है। ...पुनश्च, मन्त्रादि ब्राह्मणों के अधीन हैं... एतदर्थ ब्राह्मण देवता है। ...भावार्थ यह है कि इस भूतल पर वांछित फलों का प्रदाता वह मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण है जो ग्रहों की पारस्परिक गतियों से निरपेक्ष रहकर 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की भावना के साथ 'सर्व भूतानां प्रिय' होता है।

नगर–श्रेष्ठि :– राज–ज्योतिषी जी, यदि आपकी दृष्टि में ब्रह्मोपासना ही फलदायी है जो यज्ञादि कर्मों का क्या महत्व है?

राज–ज्योतिषी :– नगर–श्रेष्ठि!, ...यज्ञादि कर्म अपनी फलान्विति के लिए ग्रह–गतियों के मुखापेक्षी हैं। इस भासमान जगत में हम जिसे प्रतिफल की संज्ञा देते हैं उसका अनन्य आश्रय सच्चिदानन्दघन

परमात्मन् ही है जिसकी चिति–शक्ति ही समस्त कार्य–कारण सम्बन्धों की नियन्ता है।

वररुचि :– तो, यही वह ऋत् है जिसपर इस जगत का आनन्दोल्लास अवलम्बित है, आचार्य?

राज–ज्योतिषी :– हाँ वररुचि!, ...और उस वैश्विक ऋत् का ही लघुतम प्रतीक है सत्य... जिसके सम्बन्ध में श्रुति कहती है... 'अणोरणीयान् महतो महीयान्! ...सबके भीतर...सबका स्वामी!

नगर–श्रेष्ठि :– अहा!, कितनी सरलता के साथ आपने गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है।

{नेपथ्य से तुरही की ध्वनि। वररुचि कुशासन से उठकर कक्ष में राजपथ की ओर खुले गवाक्ष की ओर जाता है और गवाक्ष से राजपथ पर होने वाली उद्घोषणा का दृश्यावलोकन कर रहा है। राज–ज्योतिषी व नगर–श्रेष्ठि सावधान होकर राजपथ पर राजपुरुषों द्वारा की जा रही उद्घोषणा को सुन रहे हैं।}

(उद्घोषणा का स्वर)

{सुनो! सुनो! नगरवासियों सुनो! ...आर्यावर्त के प्रतापी शासक सत्यकेतु के आदेश से यह सार्वजनिक घोषणा की जाती है कि अब से राज्य का प्रत्येक नागरिक अपनी आजीविका–निर्वाह के सम्बन्ध में उचित मार्ग–दर्शन अपने क्षेत्र के नगररक्षक से संपर्क स्थापित कर पा सकता है। अतएव, आजीविका से सम्बन्धित किंचित कठिनाई उत्पन्न होने पर नगररक्षक से तत्काल समुचित उपाय प्राप्त करने हेतु सम्पर्क स्थापित करें। राज्य ने समस्त प्रजा के भरण–पोषण का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व अपने उपर ले लिया है।}

(तुरही की ध्वनि।)

नगरवासियों सुनो! आर्यावर्त के प्रतापी शासक सत्यकेतु के आदेश से यह सार्वजनिक घोषणा...

(आवाज धीमी पड़ जाती है।)

(नेपथ्य से महाराज सत्यकेतु की जय–जयकार! राजपथ से प्रजा का स्वर उभरता है।)

युवती स्वर :– अहा!, कितना दयालु है, हमारा राजा! साक्षात् इन्द्र!

युवक स्वर :– न भूतो न भविष्यति !

वृद्ध स्वर :– महाराज सत्यकेतु की दिनानुदिन यशोवृद्धि हो! हे भगवान्!

(नेपथ्य की हलचल शान्त होती है। गवाक्ष की ओर से वापस लौटकर वररुचि पुनः अपना आसन ग्रहण कर लेता है।)

वररुचि :– महाराज सत्यकेतु की जय–जयकार हो रही है। जन–समुदाय हर्षोल्लसित हो अपने गृहों से बाहर निकल कर राजपथ पर एकत्रित हो रहा है और उद्‌घोषकों के पीछे–पीछे चलता हुआ... आनन्दोल्लसित हो एक–दूसरे से गले मिलते हुए महाराज सत्यकेतु के गुणगान से थकता प्रतीत नहीं हो रहा है।

नगर–श्रेष्ठि :– महाराज सत्यकेतु ने एक अभूतपूर्व निर्णय लिया है, राज–ज्योतिषी जी! मै स्वयं उस समय राजसभा में उपस्थित था। कन्दर्प नामक एक बालक ने राजसभा को यह सोचने पर विवश कर दिया कि एक क्षुधित व्यक्ति द्वारा कृत अपराध उसका स्वयं का अपराध है या व्यवस्था का? महाराज सत्यकेतु ने तो राजदण्ड का

अपमान करने के अपराध में बालक कन्दर्प को मृत्युदण्ड ही दे दिया था, तभी राजगुरु द्वारा दी गयी एक विशेष व्यवस्था के अन्तर्गत कन्दर्प को राजदण्ड से उन्मुक्ति ही नहीं मिली, अपितु, उसके परिवार के भरण–पोषण का दायित्व भी उसके वयस्क होने तक राज्य द्वारा स्वयं पर ले लिया गया।

वररुचि :– राजगुरु द्वारा दी गयी विशेष व्यवस्था...? कौन सी है वह विशेष व्यवस्था?

नगर–श्रेष्ठि :– राजगुरु ने अपने सम्बोधन में कहा कि व्यक्ति व्यवस्था का साधन है... इस दृष्टिकोण से व्यवस्था की सार्थकता तभी है जब वह व्यक्ति के अस्तित्व की रक्षा करने में समर्थ हो।

वररुचि :– और, कंदर्प द्वारा महाराज सत्यकेतु के समक्ष कौन सा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया था जिसके कारण महाराज सत्यकेतु ने कुपित होकर उसे मृत्युदण्ड प्रदान किया?

नगर–श्रेष्ठि :– कंदर्प के पास मात्र एक तर्क था कि उसने विवशता में अपराध किया है। उदर की ज्वाला में जलते हुए व्यक्ति से कर्तव्य–अकर्तव्य के विवेकपूर्ण चिन्तन की अपेक्षा करना न्यायोचित नहीं है। किन्तु, कंदर्प ने तो भावाक्रोश में बहुत कुछ कह दिया... उसने कहा कि.. भूख की कोई आचार–संहिता नहीं होती। उसने यह भी प्रश्न किया कि जो हमारी पीड़ाओं को नहीं समझता वह हमारा भगवान कैसे हो सकता है।

वररुचि :– राजगुरु ने तो उचित कहा कि व्यक्ति व्यवस्था का साधन है इसलिए व्यवस्था को व्यक्ति के हितार्थ उचित प्रबन्ध करना चाहिए, किन्तु, भूख की कोई आचार–संहिता नहीं होती– ऐसा कहकर, मेरे दृष्टिकोण से, कंदर्प ने उचित नहीं किया। मुझे तो इसके मूल में कंदर्प का प्रबल

देहाध्यास ही प्रतीत होता है। मेरे दृष्टिकोण से शरीर की रक्षा अन्न नहीं ईश्वर–कृपा से सम्भव है। ...और ईश्वर–कृपा की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के अन्तःकरण में समष्टि के प्रति कृपा–भावना नितान्त वांछनीय है। आचरणविहीन होकर ईश कृपाकांक्षा कभी फलवती हो सकती है, आचार्य?

राज–ज्योतिषी :– मेरा मत भी यही है, ब्रह्मचारी! ...किन्तु, मैं इस समय किसी और दिशा में विचार कर रहा हूँ।

वररुचि :– किस दिशा में, आचार्य?

राज–ज्योतिषी :– यह भविष्यवाणी जिस मुहूर्त में हो रही है, उस मुहूर्त के विषय में।

नगर–श्रेष्ठि :– (कौतूहलवश)
सचमुच....? ....आपका क्या मत है, राज–ज्योतिषी जी?

राज–ज्योतिषी :– मुहूर्त–विचार से राज्य की यह उद्‌घोषणा जनजीवन में एक विकट उथल–पुथल की स्थिति उत्पन्न करेगी।

नगर–श्रेष्ठि :– उस उथल–पुथल का स्वरूप क्या होगा, राज–ज्योतिषी जी?

राज–ज्योतिषी :– प्राकृतिक आपदाएँ, भूकम्प, कहीं जल–प्लावन तो कहीं अकाल।

नगर–श्रेष्ठि :– (विस्मय से अभिभूत होकर)
राज–ज्योतिषी जी, यह क्या कह रहे हैं? आज जो प्रजा हर्षोल्लसित होकर महाराज सत्यकेतु की तुलना साक्षात् इन्द्र से कर रही है, उसकी नियति में जलप्लावन और अकाल है?

राज–ज्योतिषी :– मुहूर्त–विचार से तो ऐसा ही है। आगे ईश्वर की इच्छा!

नगर–श्रेष्ठि :– मुझे अनुमति दीजिए, राजज्योतिषी जी ! आपकी सेवा में पुनः उपस्थित होऊँगा।

राज–ज्योतिषी :– शुभम्! वररुचि, नगर–श्रेष्ठि को सम्मानसहित द्वार तक विदा करके आओ।

(वररुचि नगर–श्रेष्ठि के साथ नेपथ्य में चला जाता है। मंच पर राज–ज्योतिषी जी भोज–पत्र पर कुछ लेख अंकित कर रहे हैं। वररुचि नगर–श्रेष्ठि को विदा कर वापस लौटता है और राज–ज्योतिषी को लेख अंकित करते देखकर चुपचाप कुशासन पर बैठ जाता है। राजज्योतिषी लेख समाप्त करते हैं।)

राज–ज्योतिषी :– (लेख को मोड़ते हुए) शिष्य वररुचि! ...तुम इस लेख को लेकर तत्काल राजप्रासाद की ओर प्रस्थान कर जाओ। ...और ध्यान से सुनो, इस लेख को महाराज सत्यकेतु के अतिरिक्त किसी और को हस्तगत न कराना।

वररुचि :– (हाथ बढ़ाकर लेख को लेते हुए) आपके आदेश का अक्षरशः पालन होगा, आचार्य!

राज–ज्योतिषी :– महाराज सत्यकेतु के साथ एक विचित्र छल होने वाला है, वररुचि! राज–कोष पर भारी संकट है। टूटे–फूटे बर्तनों के रूप में दरिद्रता स्वयं मूर्तिमान होकर राज–प्रासाद में प्रवेश पाने का कुचक्र रचने वाली है। शीघ्रता करो, वत्स!

वररुचि :– मैं तत्काल राज–प्रासाद की ओर प्रस्थान कर रहा हूँ, आचार्य!

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

{स्वर्ग का दृश्य! देवराज इन्द्र की सभा। कण–कण से देवोपम आलोक छिटक रहा है। इन्द्र के दाहिने उच्चासन पर देवताओं के गुरु बृहस्पति पद्मासन की मुद्रा में विराजमान हैं।}

(देवर्षि नारद का प्रवेश)

नारद :– नारायण! नारायण!! नारायण!!!

(इन्द्र उठकर देवर्षि का सम्मान करते हैं एवं समीप ही आसन देते हैं।)

इन्द्र :– दर्शन पाकर कृतार्थ हुआ, देवर्षि! कहिए, कुशल–क्षेम तो है न? किस लोक से भ्रमण करते हुए लौट रहे हैं, देवर्षि!

नारद :– भू–लोक से भ्रमण कर लौट रहा हूँ, देवेन्द्र!

इन्द्र :– ओह, धरतीवासी मुदित तो हैं, न? ..वहाँ पर नियुक्त लोकपाल और दिक्पाल अपना कर्तव्य भलीभाँति निभा तो रहे हैं, न? ..ऋतुएँ समय पर आती तो हैं, न? ..धरती विपुल धनधान्य से परिपूर्ण तो है, न? ..वेदविहित मार्ग पर चलते हुए लोग यज्ञकर्म में रूचि तो ले रहे हैं, न? सबकुछ विस्तार से कहिए, देवर्षि!

नारद :– देवेन्द्र! भू–लोकवासी निरन्तर कर्मशील रहकर अत्यन्त सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, किन्तु...

इन्द्र :— किन्तु, क्या? ...देवर्षि!

नारद :— इन्हीं बातों से मेरा हृदय तनिक उद्विग्न भी है, देवेन्द्र!

इन्द्र :— यह तो हर्ष का विषय है?

नारद :— आपके शुभचिन्तक के लिए भी, देवेन्द्र? ..कदापि नहीं। ....आर्यावर्त के महान शासक सत्यकेतु के ऐश्वर्य की चर्चा आपके कानों तक पहुँची तो होगी ही... जिसने प्रजा के भरण–पोषण का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व स्वयं पर ले लिया है... जिसकी भू–लोक में सर्वत्र जय–जयकार हो रही है?

इन्द्र :— होगा, मगर इसमें चिन्तित होने की कौन सी बात है?

नारद :— बहुत भोले हो शचीपति! आखिर, तुम महादेव तो हो नहीं? ..तुम हो स्वर्ग के अधिपति! ..भला सोचो, जब धरती ही स्वर्ग हो जायेगी... तब तुम्हारे स्वर्ग को अभिलाषा करेगा कौन? ...और, फिर तुम्हारे इस सिंहासन का क्या होगा जिस पर सत्यकेतु की पैनी दृष्टि बहुत दिनों से लगी हुई है। अब तुम शायद समझ रहे होगे मेरा मन्तव्य? ...वैसे अच्छा हो, यदि तुम वल्कल धारण कर शची के साथ अभी से जंगलों में निकल जाओ।

इन्द्र :— (गम्भीर होकर) मैंने सोच लिया, देवर्षि! ...निर्णय ले चुका मैं।

नारद :— नारायण! नारायण!! ....मैं चलूँ देवेन्द्र! नारायण! नारायण !!

(सभी नारद को प्रणाम करते हैं। नारद का प्रस्थान। इन्द्र संकेत से उन्हें वर्जित करते हैं।)

इन्द्र :— (म्लान मुख) आचार्य बृहस्पति! (आगे मुख सूख जाता है।)

बृहस्पति :— तुमने कौन सा निर्णय लिया है, इन्द्र!

इन्द्र :— ..दुर्भिक्ष! ऐसा दुर्भिक्ष... जिसे आज तक न तो किसी ने देखा हो, न ही सुना। आगामी वर्षों में जल की एक–एक बूँद लिए धरतीवासी तरस जायेंगे.. ऐसा उपक्रम करूँगा मैं।

बृहस्पति :— विवेक से काम लो इन्द्र! ...अपनी सामर्थ्य को ध्यान में रखकर सोचो। तुम स्वच्छंद नहीं हो। तुम्हारी कुछ सीमायें हैं। ..प्रकृति से विरोध नहीं ले सकते हो तुम, क्योंकि माया की परिधि में तुम्हारा वैभव भी सम्मिलित है। पृथ्वीवासियों के पास परिश्रम का जो पारस है, उसे तुम अनदेखा नहीं कर सकते। ...जलवृष्टि उनका पुरस्कार है, तुम्हारा उपकार नहीं।... वनस्पतियों से हरी–भरी पृथ्वी उजाड़कर तुम भी सुख–चैन से नहीं रह सकोगे, इन्द्र!

इन्द्र :— मैं लज्जित हूँ, आचार्य! ...किन्तु, कुछ तो करना ही होगा।

बृहस्पति :— धैर्य से काम लो, इन्द्र! पहले सत्यकेतु को विश्वास में लेने का प्रयत्न तो करो। सत्यकेतु की परीक्षा के साथ ही देवर्षि के कथन की सत्यता भी प्रमाणित हो जायेगी।

इन्द्र :— आज्ञा शिरोधार्य है, आचार्य! भू–लोक को आतंकित करने के पूर्व सत्यकेतु की परीक्षा ही क्यों न ले ली जाये। सत्यकेतु का अभिमान ही यदि उसके पतन का कारण बन सके तो इससे उत्तम कौन सी युक्ति हो सकती है? मैं विचार

कर रहा हूँ, आचार्य! अभी और अविलम्ब इस अप्रत्याशित समस्या का निराकरण आवश्यक है।

(आचार्य बृहस्पति उठकर नेपथ्य में चले जाते हैं। देवराज इन्द्र ध्यानस्थ हो गये हैं।)

(पटाक्षेप)

पाँचवाँ दृश्य

{गोधूलिका बेला। बाजार का दृश्य। मैले–कुचैले वस्त्रों में एक फेरी वाला अपना सामान समेट कर सिर को हाथों मे थामे हुए बैठा है। सामने से दो राजपुरुष निकलते हैं।}

वणिक् :– (स्वगत कथन) धुँधलका छाने को है। दिन भर चलते–चलते थक गया हूँ ...लौट जा रहा हूँ। लौट ही जाऊँगा अब। आज एक भी बर्तन किसी ने खरीदा नहीं। जाने कैसे लोग हैं, केवल मन बहलाने के लिए बाजार घूमने चले आते हैं, लेना–देना कुछ नहीं। चलूँ... उठूँ..... आह...! आज रात भूखे ही मुँह ढाँपकर पड़ रहूँगा। ...कहना नहीं चाहिए, लेकिन राजा तो बस ढपोरशंख ही है। ऊपर ही ऊपर प्रजा के पेट भरने की हामी भरता है। भीतर तो सब पोल है पोल...कोई मुझसे पूछे आकर। चलूँ उठाऊँ.......आह! तारे गिन कर रात तो कट ही जायेगी आज की! आह! (पगड़ी ठीक करने लगता है।)

राजपुरुष–1 :– कौन हो तुम? ऐसे प्रतापी राजा के बारे में यूँ ही मिथ्या धारणायें फैलाते हुए तुम्हें तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं होती? ...ऐं?

वणिक् :– (भड़क कर) आय...हाय! ऐसा भी क्या राजा, जिसके राज्य में भूख के मारे गरीब का बज जाये बाजा। देखते नहीं, राजपुरुष! ...सुबह से बस मक्खियाँ मार रहा हूँ, खरीदारी एक भी नहीं हुई। अँतड़ियाँ सिकुड़ गयी हैं भूख से।

बोला नहीं जा रहा। नौबत ये है कि अब प्राण निकले कि तब। ...सावन के अन्धे को हर जगह हरेरी ही सूझती है। ...अपना पेट भरा हो न, तो लगता है सभी डकार ही तो ले रहे हैं। तुम्हारा क्या...?

राजपुरुष–1 :– (क्रुद्ध होकर) बहुत वाचाल हो! मक्खियाँ मार रहे हो तो इसमें राजा का क्या दोष? जहाँ तक भरण–पोषण की बात है, वह तुम्हें मिलेगा। चलो मेरे साथ।

वणिक् :– (अकड़कर) लगता है, अब मेरा धर्म भी ले बीतोगे। मैं वणिक्पुत्र हूँ, समझे! कमाऊँगा तभी खाऊँगा। जाओ, कह दो राजा से। ...लेना न देना, बस बातें ही लम्बी–लम्बी।

राजपुरुष–2 :– अच्छा–अच्छा। अब, चुप भी करोगे। दिखाओ अपना सामान। हम स्वयं क्रय कर लेते हैं।

(वणिक् सामान की गाँठ खोलता है।)

राजपुरुष–2 :– तो यही टूटे फूटे बर्तन हैं तुम्हारे पास। इनका क्या उपयोग हो सकता है? ...फिर भी क्या दे दिया जाय इनका। ..ये लो दो ताम्र मुद्राएँ और बर्तन इधर रखकर जाओ भोजन करो।

वणिक् :– वाह भई वाह! यूँ ही न लूटा दूँ अपना सब कुछ! दो सौ स्वर्ण मुद्राओं से कम न लूँगा।

राजपुरुष–2 :– (आश्चर्य–मिश्रित खीझ के साथ) दो सौ स्वर्ण मुद्रायें? ....लूट मचा रखी है क्या?

वणिक् :– मेरे पास तो यही है। मूल्य भी बता दिया है इनका। न लेना हो तो खिझाओ मत, जाओ। मुझे क्या? सुबह तक यदि प्राण रहे तो कल फिर फेरी लगाऊँगा। आखिर कोई तो खरीदेगा इन्हें। कोई तो लगायेगा इनका सही मूल्य।

(राजपुरुष आपस में विमर्श करते हैं।)

राजपुरुष–2 :– विचित्र हो, अच्छा चलो, तुम्हारे बारे मे राज–सभा ही निर्णय करेगी। अच्छी लूट मचा रखी है।

वणिक् :– हाँ–हाँ, चलो, मुझे किसी का भय नहीं है।

(राजपुरुष फेरीवाले को साथ लेकर जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

छठाँ दृश्य

{राजसभा का दृश्य। महाराज सत्यकेतु राज–सिंहासन पर विराजमान हैं। रानी लावण्यमती राजा के वामांगस्थित अपेक्षाकृत छोटे सिंहासन पर आसीन हैं। महाराज सत्यकेतु के दाहिने पार्श्व में राजगुरु का आसन रिक्त है। वाम पार्श्व में महामात्य सहित समस्त पार्षद सभासीन हैं।}

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल :– अन्नदाता की जय हो! राज–ज्योतिषी जी के पट्ट–शिष्य कुमार वररुचि महाराज के दर्शन करना चाहते हैं।

सत्यकेतु :– उन्हें सादर लिवा लाओ।

(द्वारपाल सहित कुमार वररुचि का राजसभा में प्रवेश। कुमार वररुचि महाराज सत्यकेतु के समक्ष उपस्थित होकर उन्हें सादर अभिवादन करते हैं।)

वररुचि :– प्रणाम स्वीकार करें, राजन्!

सत्यकेतु :– प्रणाम्। आसन ग्रहण करें, ब्रह्मचारी। कहिए, कुशल–क्षेम तो है? आचार्य कैसे हैं?

वररुचि :– (आसन ग्रहण करता है।)
आचार्य कुशलक्षेम से हैं, राजन्। तथापि, एक विशेष प्रयोजन से आचार्य ने मुझे आपके पास भेजा है। (आचार्य का लेख निकालता है।)

आचार्य का निर्देश है कि उनका यह लेख केवल आपको हस्तगत कराया जाये।

(आसन से उठकर पत्र महाराज के हाथों में दे देता है। पुनश्च्, वापस लौटकर आसन ग्रहण कर लेता है। महाराज सत्यकेतु आचार्य के लेख का ध्यान से अवलोकन कर रहे हैं।)

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल :– अन्नदाता की जय हो! ....नगर–रक्षक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

सत्यकेतु :– उन्हें मार्ग दो।

(नगर–रक्षक का वणिक् सहित प्रवेश। वणिक् के मुखमण्डल पर कुटिल मुस्कान खेल रही है।)

नगर–रक्षक :– महाराज की जय हो!

सत्यकेतु :– नगर–रक्षक, कहो क्या बात है? कौन है यह व्यक्ति?

नगर–रक्षक :– महाराज की जय हो! अत्यन्त असमंजस की स्थिति है। यह वणिक् विक्षिप्त सा प्रतीत होता है। बार–बार भूखे ही सो जाने की बात करता है। विक्रय के नाम पर इसके पास मात्र कुछ टूटे–फूटे बर्तन हैं, जिनका मूल्य भी यह दो सौ स्वर्ण मुद्रायें बता रहा है।

सत्यकेतु :– आज रात्रि के लिए इसके भोजन का प्रबन्ध राज–कोष से कर दिया जाये।

वणिक् :– (गठरी भूमि पर रखते हुए) रहने दीजिए, महाराज ! मुझे भूखे ही सो जाना स्वीकार है,

किन्तु, अपने धर्म से च्युत होने की कल्पना तो मैं सपने में भी नहीं कर सकता।

सत्यकेतु :— सो तो ठीक है, वणिक्! किन्तु, जो मूल्य तुमने निर्धारित किया है, वह युक्तिसंगत नहीं।

वणिक् :— हो सकता है, किन्तु, अपनी वस्तु का मूल्य मैंने यही निर्धारित किया है। प्रत्येक वणिक् अपनी वस्तु का विक्रय—मूल्य निर्धारित करने में स्वतन्त्र है। उसे कम मूल्य पर अपना सामान बेच देने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। आप वाणिज्य—नियमों के विरुद्ध चेष्टा कर रहे हैं, महाराज! मेरे भरण—पोषण की आपको क्यों चिन्ता हो? ..मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दीजिए। कभी तो किसी पारखी व्यक्ति की दृष्टि मेरी वस्तु पर पड़ेगी। और जब वह मुझे उचित मूल्य देकर मेरी वस्तुएँ क्रय करेगा तब क्या मेरे लिए भरण—पोषण की समस्या रह जायेगी? ...बिना उचित मूल्य प्राप्त किये मैं अपनी वस्तुओं का विक्रय किसी भी स्थिति में नहीं करूँगा।

(राजा थोड़ी देर के लिए असमंजस मे पड़ जाते हैं, फिर मुस्कुराते हुए)

सत्यकेतु :— वणिक्, तुम्हारी वस्तु राजकोष से क्रय कर ली जाये तब तो प्रसन्न हो जाओगे?

फेरीवाला :— अहा! महाराज, आपका हृदय सचमुच विशाल है। मैं कह रहा था न, कि कोई पारखी व्यक्ति ही...

सत्यकेतु :— महामात्य, राजकोष से दो सौ स्वर्ण—मुद्राओं की व्यवस्था करके वणिक् से इसके बर्तन क्रय कर लिये जाएँ।

महामात्य :— जो आज्ञा, महाराज!

सत्यकेतु :– सभा विसर्जित हो!

(राजा एवं रानी नेपथ्य में चले जाते हैं। सभा विसर्जित हो जाती है।)

(पटाक्षेप)

(सातवाँ दृश्य)

{अंतःपुर का दृश्य। महाराज सत्यकेतु पर्यंक पर विश्राम कर रहे हैं। रानी लावण्यमती समीप ही बैठी हुई है।}

सत्यकेतु :— आज राजसभा में वणिक्–पुत्र के व्यवहार से मेरा हृदय अत्यन्त उद्विग्न है, प्राणप्रिये।

लावण्यमती :— (शंकित हृदय से) नाथ, राज–ज्योतिषी की बात तो स्मरण है, न!

सत्यकेतु :— भूल भी कैसे सकता हूँ। राज–ज्योतिषी की भविष्यवाणी स्मरण कर मेरा हृदय भी बार–बार शंकित हो उठता है।

लावण्यमती :— फिर उस वणिक् के टूटे–फूटे बर्तनों को राजकोष से कयों कय कर लिया आपने?

सत्यकेतु :— नीति से डिग जाना मेरे स्वभाव में नहीं है, प्रिये!

लावण्यमती :— यह जानते हुए भी कि आपके साथ छल हो रहा है?

सत्यकेतु :— कुछ भी हो। सत्य से च्युत होकर न तो मुझे वैभव का ही कोई मोह है, न ही सत्ता का।

लावण्यमती :— नाथ, ऐसा मत कहिए। ...मेरे विचार से भविष्य में वस्तुओं के विक्रय–मूल्य पर राज्य का नियन्त्रण अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

सत्यकेतु :– प्रिये, मैं वाणिज्य पर अंकुश नहीं लगाना चाहता।

लावण्यमती :– फिर भी, ...उच्छृंखलता क्या उचित है? क्षमा करें नाथ! आप स्वयं विचारवान् हैं।

सत्यकेतु :– प्रिये, मैं एकान्तसेवन करना चाहता हूँ।

(रानी लावण्यमती नेपथ्यगमन कर जाती हैं।)
(महाराज सत्यकेतु व्यग्रता में अकेले कक्ष में टहल रहे हैं।)
(थोड़ी देर बाद, आँखें शून्य में टिकी हैं, सम्मोहनग्रस्त सी मुद्रा।)
(एक आकृति समीप से गुजरती है।)

सत्यकेतु :– कौन?

आकृति :– मैं लक्ष्मी हूँ।

सत्यकेतु :– कहाँ जा रही हो?

लक्ष्मी :– तुम्हें छोड़कर किसी और के पास।

सत्यकेतु :– क्यों?

लक्ष्मी :– क्योंकि अब मैं तुम्हारे लिए महत्वहीन हो गयी हूँ।

सत्यकेतु :– (निःश्वास लेते हुए) जैसी तुम्हारी इच्छा!

(आकृति मंच के सामने से होते हुए दूसरी ओर निकल जाती है। थोड़ी देर के लिए मंच सन्नाटे में डूब जाता है। महाराज सत्यकेतु की दृष्टि अपलक मंच के एक कोने पर टिकी हुई है।)
(तभी दूसरी आकृति पास से गुजरती है।)

सत्यकेतु	:—	(चौंककर) कौन?
आकृति	:—	मैं धर्म हूँ।
सत्यकेतु	:—	महात्मन् आप? क्या आप भी?
धर्म	:—	हाँ, सत्यकेतु! तुमने लक्ष्मी का तिरस्कार किया है। इसलिए चाह कर भी मेरी रक्षा करने में असमर्थ रहोगे। यज्ञ के अभाव में मैं कैसे रह पाऊँगा। धन के बिना धर्म सम्भव नहीं है, वत्स!
सत्यकेतु	:—	आपके विछोह से में व्यथित हूँ, महात्मन्! किन्तु, किस मुँह से मैं आपको रोकूँ।
		(दूसरी आकृति भी मंच के सामने से होते हुए दूसरी ओर निकल जाती है। थोड़ी देर के लिए नीरवता !) (फिर पास से तीसरी आकृति गुजरती है।)
सत्यकेतु	:—	(ठिठक कर) तुम कौन हो?
आकृति	:—	मैं सदाचार हूँ।
सत्यकेतु	:—	क्यों? तुम्हें क्या हुआ? तुममें ही तो जीवन का अर्थ गर्भित है। तुम्हारे अभाव में अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं है, बन्धु!
सदाचार	:—	अब मधुर वार्ता से कोई लाभ नहीं है, राजन्! सदाचार धर्म का सार है। आपने तब नहीं सोचा जब महात्मन् धर्म की उपेक्षा की। अब मुझे और अपमानित मत कीजिए।
सत्यकेतु	:—	तुम बहुत उद्विग्न हो, बन्धु! मेरी भूल से तुम्हारे हृदय को जो ठेस पहुँची है, उसका मुझे भी पश्चात्ताप है। शायद विधाता ही वाम है। (भर

आये कंठ से) ...या मैं ही विक्षिप्त हो गया हूँ। कुछ समझ में नहीं आता।

(तीसरी आकृति भी सामने से होती हुई दूसरी ओर निकल जाती है। मंच पर नीरवता।
(फिर चौथी आकृति पास से गुजरती है।)

आकृति :— राजन्!

सत्यकेतु :— तिमिर में किरण की तरह तुम कौन हो, प्रिय!

आकृति :— मैनें तुम्हें चिरकाल तक सुशोभित किया है, राजन्! मैं हूँ तुम्हारा यश। सदाचार के अभाव में मेरी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी है।

सत्यकेतु :— क्यों? क्या हुआ तुम्हें?

यश :— राजन्! स्वयं पंगु होने के कारण मुझे देश—देशान्तर तक भ्रमण करने के लिए सदाचार के बलिष्ठ कन्धों की आवश्यकता पड़ती है। शुभ कर्मों के अभाव में केवल एक ही धक्का पर्याप्त है मुझे धूल—धूसरित करने के लिए। इसलिए मुझे अनुमति दीजिए, राजन्!

सत्यकेतु :— अब तुम्हारी कामना भी शेष नहीं रही, प्रिय! जाओ, सुख से रहो।

(चौथी आकृति भी लँगड़ाती हुई मंच के दूसरी ओर निकल जाती है। थोड़ी देर के लिए मंच पर पूर्ण नीरवता व्याप्त!
(फिर पाँचवी आकृति प्रकट होती है।)

सत्यकेतु :— कौन हैं आप?

आकृति :— सत्य! ....विराट् का प्रतिरूप!

सत्यकेतु :— आपके स्वरूप से साक्षात् होकर मेरा रोम–रोम पुलकित हो उठा है, आत्मन्!

सत्य :— मैं तुमसे विलग हो रहा हूँ, सत्यकेतु!

सत्यकेतु :— नहीं, ...नहीं, आत्मन्! आप मुझसे विलग नहीं हो सकते।

सत्य :— आखिर क्यों? तुम्हें तो किसी की कामना नहीं... किसी के प्रति संकल्प नहीं।

सत्यकेतु :— नहीं, आत्मन्! आप मेरा संकल्प हैं। आपसे विलग होकर मैं संज्ञाशून्य हो जाऊँगा।

सत्य :— तुम्हें तो मोक्ष की ललक है, सत्यकेतु! मुझे लेकर क्या करोगे?

सत्यकेतु :— (मुस्कुराते हुए) आपको नहीं है? वही तड़प तो आप में भी है, महात्मन्! अणु से ...विराट् होने की।

सत्य :— आखिर तुम कहना क्या चाहते हो?

सत्यकेतु :— आप ही माध्यम हैं मोक्ष का। इसीलिए मैने आपको सदैव धारण किया है।

सत्य :— फिर?

सत्यकेतु :— मैं आपसे और आप मुझसे परे नहीं हो सकते, आत्मन्! पुनश्च, अणुवत् मुझमें प्रविष्ट हो जाइये।

(आकृति शनैः शनैः विलीन हो जाती है। सत्यकेतु की तेजोमय काया में एक आलोक–रश्मि प्रविष्ट कर जाती है।)

(थोड़ी देर बाद एक आकृति मंच के दूसरे कोने से वापस लौटती है।)

सत्यकेतु :– (आश्चर्यित–सा) अहो, महात्मन् आप?

आकृति :– हाँ राजन्! धर्म की नींव ही सत्य पर टिकी है। सत्य आधार है धर्म का। तुम श्रेष्ठ हो, राजन्! क्योंकि तुमने अपने दृढ़ संकल्प से सत्य को धारण किया है। तुम्हारी छत्रच्छाया में ही धर्म का चतुर्मुखी विकास सम्भव है। अब मैं पूर्ण आश्वस्त हूँ।

सत्यकेतु :– आप मेरे प्रति अत्यन्त उदार हैं, महात्मन् धर्म।

धर्म :– तुम्हारा चरित्र अनुकरणीय है, राजन् ! मुझे धारण करो।

(धर्म एक प्रकाशपुंज के रूप में सत्यकेतु के शरीर में विलीन हो जाता है।)
(थोड़ी देर बाद दो आकृतियाँ मंच के दूसरे कोने से निकल कर सामने आती हैं। एक आकृति दूसरी को सहारा दिये हुए है।)

सत्यकेतु :– (मुदित होकर) अहो सदाचार तुम! ...और यश तुम!

सदाचार :– राजन्!, तुम सत्यनिष्ठ एवं धर्मशील हो। इतना ही नहीं, अत्यन्त विवेकी भी हो। वस्तुतः सत्य के निराकृत होकर मेरा कोई अर्थ नहीं। धर्म के अतिरिक्त मेरी कोई परिभाषा नहीं।

यश :– तुम्हारा अंतःकरण अत्यन्त निर्मल है, राजन्! शुद्ध अंतःकरण यश के चतुर्दिक् प्रसार के लिए परमावश्यक है। अर्जित करो हमें!

सत्यकेतु :– स्वागत है!

(दोनों आकृतियाँ सत्यकेतु की काया में ज्योतिपुंज के रूप में प्रविष्ट हो जाती हैं।)

(चमत्कार! मंच पर बादलों की घड़घड़ाहट के साथ एक तीव्र प्रकाश–पुंज। साक्षात् देवराज इन्द्र खड़े हुए मुस्करा रहे हैं।)

सत्यकेतु :– देवेन्द्र, आप? मेरा प्रणाम स्वीकार करें, स्वर्गाधिपति!

इन्द्र :– मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था, सत्यकेतु! सत्य की कसौटी पर तुम खरे उतरे।

सत्यकेतु :– सब विराट् की अनुकम्पा है, देवेन्द्र!

इन्द्र :– इच्छित वर माँगो, राजन्!

सत्यकेतु :– आप समर्थ हैं, देवेन्द्र!

इन्द्र :– मैं तुम्हें चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित करता हूँ!

(देवराज इन्द्र अन्तर्धान हो जाते हैं।)

(एक आकृति मंच के दूसरे कोने से चल कर धीरे–धीरे सामने आ जाती है।)

आकृति :– चक्रवर्ती राजन्! मुझे आश्रय दो। ...मैं लक्ष्मी हूँ। ...तुम्हारा ऐश्वर्य! ...तुम असाधारण हो, राजन्! मैंने तुम्हें समझने में भूल की। ...क्षमा कर दो मुझे। ...मैं स्वयं बहुत लज्जित हूँ!

सत्यकेतु :– नहीं देवि, स्वयं को निरीह मत अनुभव करो। तुम तो साधन हो जगत का। ...वर्चस्व हो पुरूष का! ....तुम्हारा अभिनन्दन है!

(पटाक्षेप)